जैनदर्शन में नैतिकता की सापेक्षता और निरपेक्षता

☐ डा० सागरमल जैन
एम. ए., पी-एच. डी.

पाश्चात्य आचार दर्शन में यह प्रश्न सदैव विवादास्पद रहा कि नैतिकता सापेक्ष है या निरपेक्ष। नैतिकता को निरपेक्ष मानने वाले विचारकों में प्रमुख रूप से जर्मन दार्शनिक कांट का नाम आता है। कांट का कथन है कि "केवल उस सिद्धान्त के अनुसार आचरण करो जिसे तुम उसी समय एक सार्वभौम नियम बनाने का भी संकल्प कर सको।"[१] कांट यह मानते हैं कि "नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश हैं अर्थात् नैतिक नियम ऐसे नियम हैं जो देश-काल अथवा व्यक्ति के आधार पर परिवर्तित नहीं होते। यदि सत्य बोलना नैतिकता है तो फिर किसी भी स्थिति में असत्य बोलना नैतिक नहीं हो सकता। हमें प्रत्येक परिस्थिति में सत्य ही बोलना चाहिए।" कांट की मान्यता को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं, जो आचरण नैतिक है वह सदैव नैतिक रहेगा और जो अनैतिक है वह सदैव अनैतिक रहेगा। देशकालगत अथवा व्यक्तिगत परिस्थितियों से वे प्रभावित नहीं होते हैं अर्थात् आचार के जो कर्म नैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में नैतिक कर्म रहेंगे और आचार के जो कर्म अनैतिक हैं वे सदैव प्रत्येक परिस्थिति में अनैतिक कर्म रहेंगे। इस प्रकार जो विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिकता निरपवाद एवं देशकाल और व्यक्तिगत तथ्यों से निरपेक्ष है उसे निरपेक्ष नैतिकता की विचारणा कहा जाता है। इसके विपरीत नैतिक दर्शन की जो विचारणाएं नैतिक कर्मों एवं आचरणों को अपवाद युक्त एवं देश, काल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तनशील मानती हैं, नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणाएं कही जाती है। नैतिकता की सापेक्षवादी विचारणा यह स्वीकार करती है कि एक ही कर्म एक अवस्था में नैतिक हो सकता है और वही कर्म दूसरी अवस्था में अनैतिक हो सकता है। हाब्स, मिल तथा सिजविक प्रभृति सुखवादी विचारक इसी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। नैतिक कर्मों के अपवाद के प्रश्न को लेकर इनका कांट से विरोध है। ये विचारक नैतिक जगत में अपवाद को स्वीकार करते हैं। हाब्स लिखते हैं कि "अकाल के समय जब अनाज क्रय करने पर भी न मिले, न दान में ही प्राप्त हो तब क्षुधातृप्ति के लिये कोई चौर्य कर्म का आचरण करे तो उसका वह अनैतिक कर्म क्षम्य ही माना जावेगा।"[२] मिल इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, कि "ऐसे समय में चोरी करके जीवन की रक्षा करना केवल क्षम्य कर्म ही नहीं है अपितु मनुष्य का कर्तव्य

---

१ "Act only on that maxim (Principle) which thou canst at the same time will to become a Universal Law"
Fundamental Principles of the Metaphysics of Morals, Sec. II

२ Leviathan, Part II, Chapt. 27, p. 13 (Morley's Universal Library edition)
—Hobbes.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।"[1] इसी प्रकार सिजविक भी नैतिक जीवन के क्षेत्र में अपवाद को स्थान देते हैं, वे लिखते हैं—"यद्यपि यह कहा गया है कि सब लोगों को सच बोलना चाहिए तथापि हम यह नहीं कह सकते हैं कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्रवाई गुप्त रखनी पड़ती है वे दूसरे व्यक्तियों के साथ हमेशा सच ही बोला करें।" फलवादी नैतिक विचारक जान डूयई लिखते हैं "वास्तव में ऐसे स्थान और समय—अर्थात् ऐसे सापेक्ष सम्बन्ध हो सकते हैं जिनमें सामान्य क्षुधाओं की पूर्ति भी जिन्हें साधारणत: भौतक और ऐन्द्रिक कहा जाता है आदर्श हों।"[2] इन सभी के विपरीत कांट नैतिक कर्मों में किसी भी अपवाद को स्थान नहीं देते हैं। उनके बारे में यह घटना प्रसिद्ध है कि एक बार कांट के लिए किसी जहाज से फलों का पार्सल आ रहा था। रास्ते में जहाज विपत्ति में फँस गया और यात्री भूखों मरने लगे। ऐसी स्थिति में कांट का फलों का पार्सल भी खोल लिया गया। जब कांट के पास खुला हुआ पार्सल पहुँचा, तो कांट ने पार्सल का खोला जाना सर्वथा अनैतिक ठहराया। कांट बताते हैं कि नैतिक कभी अनैतिक नहीं बनता और अनैतिक कभी नैतिक नहीं बनता। देश-काल और परिस्थितियाँ अनैतिक को नैतिक नहीं बना सकतीं।

दूसरे स्पेन्सर आदि कुछ अन्य विकासवादी विचारक एवं समाजशास्त्रीय विचारक भी नैतिक कर्मों की नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। स्पेन्सर यद्यपि नैतिकता को सापेक्ष तथ्य स्वीकार करते हैं फिर भी वे उससे सन्तुष्ट नहीं होते हैं और निरपेक्ष नीति की कल्पना कर डालते हैं।

पश्चिम की तरह भारत में भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षों पर काफी गहन विचारणाएँ हुई हैं। नैतिक कर्मों की अपवादात्मकता और निरापवादिता की चर्चा के स्वर वेदों, स्मृति ग्रन्थों और पौराणिक साहित्य में काफी जोरों से सुनाई देते हैं।[3] जहाँ तक जैन विचारणा में नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष की मान्यता का प्रश्न है उसे एकांतिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है, न निरपेक्ष। यदि उसे सापेक्ष कहने का आग्रह ही रखा जावे तो वह इसीलिए सापेक्ष है क्योंकि वह निरपेक्ष भी है।[4] निरपेक्ष के अभाव में सापेक्ष भी सच्चा सापेक्ष नहीं है। वह निरपेक्ष इसलिये है क्योंकि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। आइये जरा इस प्रश्न पर गहराई से विचार करें कि जैन नैतिकता किस अर्थ में सापेक्ष है और किस अर्थ में निरपेक्ष है।

जैन नैतिकता का सापेक्ष पक्ष

जैन तत्त्वज्ञान जिस अनेकांतवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलता है उसके अनुसार सारा ज्ञान सापेक्ष ही होगा चाहे वह कितना ही विस्तृत क्यों नहीं हो। यदि हम अपूर्ण हैं तो सत् के अनन्त पक्षों को नहीं जान सकते, अत: जो भी कुछ भी जानेंगे वह अपूर्ण होगा, सपक्ष होगा। यदि ज्ञान ही सापेक्ष रूप में होगा तो हमारे नैतिक निर्णय, जिन्हें हम प्राप्त ज्ञान के आधार पर करते हैं, सापेक्ष ही होंगें इस प्रकार अनेकांतवाद की धारणा से नैतिक निर्णयों की सापेक्षता फलित

---

१ Thus to save a life it may not only be allowable but a duty to steal... Mill—Utilitarianism, Chap. 5, p. 95 (15th Ed.)

२ नैतिक जीवन के सिद्धान्त (हिन्दी अनुवाद), पृ० ५६।

३ विशेष विवेचन के लिये देखिए—तिलक का गीता रहस्य, कर्म जिज्ञासा, अध्याय १।

४ अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाण-नय साधनात्।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितात् नयात्॥

—स्वयंभू स्तोत्र १०३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। गीता भी स्वीकार करती है कि 'किं कर्तव्य' का निश्चय कर पाना अथवा कर्म की शुभाशुभता का निरपेक्ष रूप से निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है।[1]

आचरण के जिन तथ्यों को हम शुभ या अशुभ अथवा पुण्य या पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ में साधारण व्यक्ति द्वारा दिए गए यह निर्णय सापेक्षिक ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयों के देने में कम से कम कर्ता के प्रयोजन एवं कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही हैं। दूसरे व्यक्ति के आचार के सम्बन्ध में दिये गये हमारे अधिकांश निर्णय परिणाम सापेक्ष होते हैं जब कि स्वयं के आचरण के बारे में लिए जाने वाले निर्णयों में हम प्रयोजन सापेक्ष होते हैं। कोई भी व्यक्ति पूर्णतया न तो यह जान सकता है कि कर्ता का प्रयोजन क्या था, न स्वयं के कर्मों का दूसरों पर क्या परिणाम हुआ, इसका पूरा ज्ञान रख सकता है। अतः जन साधारण के नैतिक निर्णय हमेशा सापेक्ष हो सकते हैं।

दूसरी ओर हमें जिस जगत में नैतिक आचरण करना है वह सारा जगत ही आपेक्षिकताओं से युक्त है क्योंकि उसकी प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतः इस सापेक्षिकता के जगत में नैतिक आचरण भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। सभी कर्म देश-काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं और इसलिए वे निरपेक्ष नहीं हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे रहा हुआ वैयक्तिक अभिप्रयोजन (Intention) भी आचरण को नैतिक विचारणा की दृष्टि से सापेक्ष बना देते हैं। जैनदर्शन दार्शनिक दृष्टि से वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता को स्वीकार करता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में आदीपव्योम सभी वस्तुएँ स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित हैं अर्थात् सभी जागतिक तथ्य अनेक गुण-धर्मों से युक्त है। नैतिक कर्म भी एक जागतिक तथ्य है वह भी अनेक पक्षों से युक्त है अतः उस पर किसी निरपेक्ष अथवा ऐकान्तिक दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जा सकता। उसके देश-कालगत अनेक पक्षों की बिना समीक्षा किये उन्हें नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। कोई भी कर्म देशकाल भाव आदि तथ्यों से भिन्न एकान्त रूप में न तो नैतिक कहा जा सकता है और न अनैतिक। पाश्चात्य दार्शनिक ब्रेडले इसी विचार के समर्थक हैं। वे लिखते हैं 'प्रत्येक कर्म के अनेक पक्ष होते हैं, अनेक रूपों से सम्बन्धित होता है, उस पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण होते हैं और वह अनेक गुणों से युक्त होता है, सदैव अनेक ऐसे सिद्धान्त हो सकते है जिनके अन्तर्गत उस पर विचार किया जा सकता है और इसलिए उसे (एकांत रूप में) नैतिक अथवा अनैतिक मानने में कुछ कम कठिनाई नहीं होती। एक कर्म एक दशा में नैतिक हो सकता है और दूसरी दशा में अनैतिक हो सकता है, वही कर्म एक व्यक्ति के लिए नैतिक हो सकता है दूसरे व्यक्ति के लिए अनैतिक हो सकता है। जैन विचारणा कर्मों की नैतिक दृष्टि से इस सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचारांगसूत्र में कहा है कि "जो आस्रव या बन्ध के कारण हैं वे सभी मोक्ष के हेतु हो जाते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं वे सभी बन्ध के हेतु हो जाते हैं।"[2] इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष स्थिति में नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष स्थिति में अनैतिक बन सकता है।[3] वस्तुतः समाचारण या क्रिया अपने आप में न तो नैतिक होती है और न अनैतिक वरन् परिस्थितियाँ एवं व्यक्ति का प्रयोजन उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना

---

१ गहना कर्मणो गतिः —गीता ४।१७

२ (क) जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा। —आचारांग १-४-२-१३०

(ख) य एवास्रवा कर्मबन्ध स्थानानि त एव परिस्रवा कर्मनिर्जरा स्थानानि।

—आचार्य शीलांक टीका

३ यस्मिन् देशे काले यो धर्मो भवति स निमित्तान्तरेषु अधर्मो भवत्येव ॥

—उद्धृत अमर भारती (मई १९६४) पृ० १५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देता है। दान देना नैतिक कर्म है लेकिन कुपात्र को अथवा यश प्राप्ति के निमित्त दिया हुआ दान अनैतिक हो जाता है। अतः आचरण की शुभता अथवा अशुभता का निश्चय निरपेक्ष रूप से नहीं किया जा सकता है। उपाध्याय अमर मुनि जी लिखते हैं "त्रिभुवनोदर विवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आप में न तो मोक्ष के कारण हैं और न संसार के कारण हैं। साधक की अपनी अन्तः स्थिति ही उन्हें अच्छे या बुरे का रूप दे देती है।"[1] लेकिन न केवल साधक की मनःस्थिति जिसे जैन शब्दावली में भाव कहते हैं आचरण के तथ्यों का मूल्यांकन करती है वरन् उसके साथ-साथ जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्व स्वीकार किया है। आचार्य आत्मारामजी महाराज अपनी आचारांग सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं बन्ध और निर्जरा (नैतिकता और नैतिकता) में भावों की प्रमुखता है परन्तु भावों के साथ स्थान और क्रिया का भी मूल्य है।[२] आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका में आचार्य जिनेश्वर ने चरक संहिता का एक श्लोक[3] उदधृत किया है जिसका अर्थ है कि देशकाल और रोगादि के कारण मानवजीवन में कभी-कभी ऐसी अवस्था भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है और कार्य अकार्य बन जाता है। जो विधान है, वह निषेध की कोटि में चला जाता है और जो निषेध है वह विधान की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता में चार आपेक्षिकताएँ नैतिक मूल्यों के निर्धारण में भाग लेती हैं। आचरण के तथ्य इन्हीं चार बातों के आधार पर नैतिक और अनैतिक बनते रहते हैं। दूसरे शब्दों में आचरण के तथ्य अपने आप में नैतिक अथवा अनैतिक नहीं होते वरन् वस्तुस्थिति, स्थान, समय और कर्ता के मनोभाव यह चारों मिलकर उसे नैतिक अथवा अनैतिक बना देते हैं। संक्षेप में एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक वरन् देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत आन्तरिक परिस्थितियाँ उन्हें वैसा बना देती हैं। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यों के सम्बन्ध में अनेकांतवादी या सापेक्षिक दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि जो दानादि एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं वे ही एक मुनि या संन्यासी के लिए अकर्तव्य होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा में जैन विचारणा किसी भी एकांतिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करती। समदर्शी आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि भगवान तीर्थंकर देवों ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न किसी बात के लिए एकान्त निषेध ही किया है। भगवान तीर्थंकर देव का एक ही आदेश है, एक ही आज्ञा है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी वफादारी के साथ करते रहो[४]। आचार्य उमास्वाति का कथन है नैतिक-अनैतिक, विधि (कर्तव्य) निषेध

---

1 Every act has of course, many sides, many relations, many points of view from which it may be regarded, and so many qualities there is not the smallest difficulty in exhibiting it as the realization of either right or wrong. No act in the world is without some side capable of being subsumed under a good rule. —Ethical Studies (1962) P. 196.

२ आचारांग सूत्र हिन्दी टीका, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७८ संस्करण १९६३

३ उत्पद्यते हि सावस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत ॥ —अष्टक प्रकरण २७।५ टीका
(उद्धृत अमर भारती, फरवरी १९६५)

४ न वि किंचि अणुण्णातं पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं।
तित्थगराणं आणा कज्जे सच्चेण होयव्वं ॥ —उपदेशपद ७७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(अकर्तव्य) अथवा आचरणीय या अनाचरणीय एकान्त रूप से नियत नहीं है। देशकाल, व्यक्ति, अवस्था, उपघात और विशुद्ध मनःस्थिति के आधार पर असमाचरणीय समाचरणीय और समाचरणीय असमाचरणीय बन जाता है।[१] वर्तमान युग के प्रसिद्ध जैन विचारक संत उपाध्याय अमर मुनि जी ने जैन नैतिकता के सापेक्षिक दृष्टिकोण को बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है, वे लिखते है "कुछ विचारक जीवन में उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को पकड़ कर चलना चाहते हैं और जीवन में अपवाद का सर्वथा अपलाप करते हैं, उनकी दृष्टि में अपवाद धर्म नहीं अपितु एक महत्तर पाप (अनैतिकता) है—दूसरी ओर कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते है—ये दोनों विचार एकांगी होने से उपादेय की कोटि में नहीं आ सकते। जैनधर्म की साधना एकान्त की नहीं, अपितु अनेकान्त की सुन्दर और स्वस्थ साधना है।"[२] अन्यत्र वे पुनः लिखते हैं—"उसके (जैन दर्शन के) दर्शन कक्ष में मोक्ष के हेतुओं की कोई बँधी बँधाई नियत रूपरेखा नहीं है, इयत्ता नहीं है।"[३] पाश्चात्य विचारक ब्रेडले भी कर्तव्याकर्तव्य मीमांसा करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि नैतिकता सापेक्ष होती है। वे लिखते हैं कि "मेरा स्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त स्वीकार करता है कि यदि नैतिक तथ्य सापेक्ष नहीं है तो कोई भी नैतिकता नहीं होगी। ऐसी नैतिकता जो सापेक्ष नहीं है, व्यर्थ है।"

जैन नैतिकता का निरपेक्ष पक्ष

हमने जैनदर्शन में नैतिकता के सापेक्ष पक्ष पर विचार किया लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जैनदर्शन में नैतिकता का केवल सापेक्ष पक्ष ही स्वीकार किया गया है। जैन विचारक कहते हैं कि नैतिकता का एक दूसरा पहलू भी है जिसे हम निरपेक्ष कह सकते हैं। जैन तीर्थंकरों का उद्घोष था कि "धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है"।[४] यदि नैतिकता में कोई निरपेक्ष एवं शाश्वत तत्त्व नहीं है तो फिर धर्म की नित्यता और शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैन नैतिकता यह स्वीकार करती है कि भूत, वर्तमान, भविष्य के सभी धर्म प्रवर्तकों (तीर्थंकरों) की धर्म प्रज्ञप्ति एक ही होती है लेकिन इसके साथ-साथ वह यह भी स्वीकार करती है सभी तीर्थंकरों की धर्म प्रज्ञप्ति एक होने पर भी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में विभिन्नता हो सकती है जैसी महावीर और पार्श्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित आचार नियमों में थी।[५] जैन विचारणा यह स्वीकार करती है कि नैतिक आचरण के आन्तर और बाह्य ऐसे दो पक्ष होते हैं जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्दों में द्रव्य और भाव कहा जाता है। जैन विचारणा के अनुसार आचरण का यह बाह्य पक्ष देश एवं कालगत परिवर्तनों के आधार पर परिवर्तनशील होता है, सापेक्ष होता है। जबकि आचरण का आन्तर पक्ष सदैव-सदैव एक रूप होता है, अपरिवर्तनशील होता है दूसरे शब्दों में निरपेक्ष होता है। वैचारिक या भावहिंसा सदैव-सदैव अनैतिक होती है, कभी भी धर्म मार्ग अथवा नैतिक जीवन का नियम नहीं कहला सकती, लेकिन द्रव्यहिंसा या बाह्यरूप में परिलक्षित होने वाली हिंसा सदैव ही अनैतिक अथवा अनाचरणीय ही हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। आन्तर

---

१ देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघात शुद्ध परिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥१४६
—प्रशमरति उमास्वाति—(अमर भारती, फरवरी १९६५)

२ अमर भारती, फरवरी १९६५ पृ० ५

३ अमर भारती, मार्च १९६५, पृ० ३८

४ एस धम्मे सुद्धे निचिए सासए। —आचारांग

५ विशेष द्रष्टव्य—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिग्रह अर्थात् तृष्णा या आसक्ति सदैव ही अनैतिक है लेकिन द्रव्य परिग्रह सदैव ही अनैतिक नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में जैन विचारणा के अनुसार आचरण के बाह्य रूपों में नैतिकता सापेक्ष हो सकती है और होती है लेकिन आचरण के आन्तर रूपों या भावों या संकल्पों के रूप में वह सदैव निरपेक्ष ही है। सम्भव है कि बाह्य रूप में अशुभ दिखने वाला कोई कर्म अपने अन्तर में निहित किसी सदाशयता के कारण शुभ हो जाये लेकिन अन्तर का अशुभ संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि में नैतिकता अपने हेतु या संकल्प की दृष्टि से निरपेक्ष होती है। लेकिन परिणाम अथवा बाह्य आचरण की दृष्टि से सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दों में नैतिक संकल्प निरपेक्ष होता है लेकिन नैतिक कर्म सापेक्ष होता है। इसी कथन को जैन पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यवहार नय (व्यवहार दृष्टि) से नैतिकता सापेक्ष है या व्यावहारिक नैतिकता सापेक्ष है लेकिन निश्चय नय (परिमार्थिक दृष्टि) से नैतिकता निरपेक्ष है या निश्चय नैतिकता निरपेक्ष है। जैन दृष्टि में व्यावहारिक नैतिकता वह है जो कर्म के परिणाम या फल पर दृष्टि रखती है जबकि निश्चय नैतिकता वह है जो कर्ता के प्रयोजन या संकल्प पर दृष्टि रखती है। युद्ध का संकल्प किसी भी स्थिति में नैतिक नहीं हो सकता लेकिन युद्ध का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं। आत्महत्या का संकल्प सदैव ही अनैतिक होता है लेकिन आत्महत्या का कर्म सदैव ही अनैतिक हो यह आवश्यक नहीं है वरन् कभी-कभी तो वह नैतिक ही हो जाता है।

नैतिकता के क्षेत्र में जब एक बार व्यक्ति के संकल्प स्वातन्त्र्य को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर हमें यह कहने का अधिकार ही नहीं रह जाता है कि हमारा संकल्प सापेक्ष है। यदि संकल्प सापेक्ष नहीं है तो उसके सन्दर्भ में नैतिकता को भी सापेक्ष नहीं माना जा सकता है। यही कारण है कि जैन विचारणा संकल्प या विचारों की दृष्टि से नैतिकता को सापेक्ष नहीं मानती है। उसके अनुसार शुभ अध्यवसाय या संकल्प सदैव शुभ है, नैतिक है और कभी भी अनैतिक नहीं होता है। लेकिन निरपेक्ष नैतिकता की धारणा को व्यावहारिक आचरण के क्षेत्र पर पूरी तरह लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यवहार सदैव सापेक्ष होता है। डा० ईश्वर चन्द्र शर्मा लिखते हैं कि "यदि कोई नियम आचार का निरपेक्ष नियम बन सकता है तो वह बाह्यात्मक नहीं होकर अन्तरात्मक ही होना चाहिए। आचार का निरपेक्ष नियम वही नियम हो सकता है जो कि मनुष्य के अन्तस् में उपस्थित हो। यदि वह नियम बाह्यात्मक हो तो वह सापेक्ष ही सिद्ध होगा क्योंकि उसके पालन करने के लिए मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ेगा।"

जैन नैतिक विचारणा में नैतिकता को निरपेक्ष तो माना गया लेकिन केवल संकल्प के क्षेत्र तक। जैन-दर्शन 'मानस कर्म' के क्षेत्र में नैतिकता को विशुद्ध रूप में निरपेक्ष स्वीकार करता है। लेकिन जहाँ कायिक या वाचिक कर्मों के बाह्य आचरण का क्षेत्र आता है, वह उसे सापेक्ष स्वीकार करती है। वस्तुतः विचारणा का क्षेत्र, मानस का क्षेत्र आत्मा का अपना क्षेत्र है वहाँ वही सर्वोच्च शासक है अतः वहाँ तो नैतिकता को निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया जा सकता है लेकिन आचरण के क्षेत्र में चेतन तत्त्व एक मात्र शासक नहीं, वहाँ तो अन्य परिस्थितियाँ भी शासन करती हैं, अतः उस क्षेत्र में नैतिकता के प्रत्यय को निरपेक्ष नहीं बनाया जा सकता।

---

१ महावीर की प्रथम स्त्री शिष्या महासती चन्दनबाला की माता धारिणी के द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा के लिए की गई आत्महत्या को जैन विचारणा में अनुमोदित ही किया गया है। इसी प्रकार महाराजा चेटक के द्वारा न्याय की रक्षा के लिए लड़े गये युद्ध के आधार पर उनके अहिंसा के व्रत को खण्डित नहीं माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विचारणा के इतिहास में भी एक प्रसंग ऐसा आया है जब आचार्य भिक्षु जैसे कुछ जैन विचारकों ने नैतिकता के बाह्यात्मक नियमों को भी निरपेक्ष रूप में ही स्वीकार करने की कोशिश की। वस्तुतः जो नैतिक विचारणाएं मात्र सापेक्षिक दृष्टि को ही स्वीकार करती हैं वे नैतिक जीवन के आचरण में उस यथार्थता (actuality) की भूमिका को महत्त्व देती हैं जिसमें साधक व्यक्ति खड़ा हुआ है। लेकिन वे उस यथार्थता से ऊपर स्थित आदर्श का समुचित मूल्यांकन करने में सफल नहीं हो पाती हैं वास्तविकता यह है कि वे 'जो है' उस पर तो ध्यान देती है लेकिन 'जो होना चाहिए' इस पर उनकी दृष्टि नहीं पहुंचती उनकी दृष्टि यथार्थ या वास्तविकता पर होती है आदर्श पर नहीं। नैतिकता की। एकान्तिक सापेक्षवादी मान्यता में नैतिक आदर्श की स्थापना जटिल हो जाती है। उसमें नैतिकता सदैव साधन वस्तु ही बनी रहती है। सापेक्षवादी नैतिकता आचरण की एक ऐसी कच्ची सामग्री प्रस्तुत करती है जिसका अपना कोई 'आकार' नहीं। (Relative morality gives us only matter of conduct not the form of conduct.) वह तो उस कुम्हार के चाक पर रखे हुए मृत्तिका पिण्ड के समान है जिसका क्या बनना है यह निश्चित नहीं। इसी प्रकार जो नैतिक विचारणाएँ मात्र निरपेक्ष दृष्टि को स्वीकार करती हैं, वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं, वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं, लेकिन उसके साधना पथ का समुचित निर्धारण करने में असफल हो जाती हैं, उसमें नैतिकता मात्र साध्य बनकर रह जाती है।

नैतिकता की निरपेक्षवादी धारणा नैतिक जीवन प्रयोजन या लक्ष्य और दूसरे शब्दों में कर्म के पीछे रहे हुए कर्ता के अभिप्राय को ही सब कुछ मन लेती है। वे मात्र आदर्श की ओर ही देखती हैं लेकिन साधक की देशकालगत अवस्थाओं पर विचार नहीं करती हैं। नैतिक जीवन के आदर्श इस प्रकार प्रस्तुत किए जाने चाहिए कि उसमें निम्न से निम्नतर चरित्र वाले से लगाकर उच्चतम नैतिक विकास वाले प्राणियों के समाहित होने की संभावना बनी रहे। जैन नैतिकता अपने नैतिक आदर्श को इतने ही लचीले रूप में प्रस्तुत करती है, जिसमें पापी से पापी आत्मा भी क्रमिक विकास करता हुआ नैतिक साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

सापेक्षवादी और निरपेक्षवादी दोनों ही विचारणाएँ अपने एकांतिक रूप में अपूर्ण हैं। एक उस भूमि पर तो देखती है, जहां साधक खड़ा है, लेकिन उससे आगे नहीं। दूसरी उस आदर्श की ओर ही देखती है, जो सुदूर ऊंचाइयों में स्थित है। लेकिन इन दोनों दशाओं में नैतिक जीवन के लिए जिस गति की आवश्यकता है वह सम्यग् रूपेण सम्पन्न नहीं हो पाती। नैतिकता तो एक लक्ष्योन्मुख गति है। लेकिन उस गति में साधक की दृष्टि केवल उस भूमि पर ही स्थित है, जिस पर वह गति कर रहा है और अपने गन्तव्य मार्ग की ओर सामने नहीं देखता है, तो कभी भी लक्ष्य के मध्य स्थित बाधाओं से टकराकर पदच्युत हो सकता है। इसी प्रकार जो साधक मात्र आदर्श की ओर देखता है और उस भूमि की ओर नहीं देखता जिस पर चल रहा है तो वह भी अनेक ठोकरें खाता है और कण्टकों से पद विद्ध कर लेता है। नैतिक जीवन में भी हमारी गति का वही स्वरूप होता है जो हमारे दैनिक जीवन में होता है। जिस प्रकार दैनिक जीवन में चलने के उपक्रम में हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है न मात्र नीचे देखने से। जो पथिक मात्र नीची दृष्टि रखता है और सामने नहीं देखता वह ठोकर तो नहीं खाता लेकिन टकरा जाता है। जो सामने तो देखता है लेकिन नीचे नहीं देखता वह टकराता तो नहीं लेकिन ठोकर खा जाता है। चलने की सम्यक् प्रक्रिया में पथिक को सामने और नीचे दोनों ओर दृष्टि रखनी होती है। इसी प्रकार नैतिक जीवन में साधक को यथार्थ और आदर्श दोनों पर दृष्टि रखनी होती है। साधक की एक आँख यथार्थ पर और दूसरी आदर्श

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर हो तभी वह नैतिक जीवन में सम्यक् प्रगति कर सकता है। सम्भवतः यह शंका हो सकती है कि हमें सामान्य जीवन में तो दो आँखें मिली हैं लेकिन नैतिक जीवन की दो आँखें कौन सी हैं। किसी अपेक्षा से ज्ञान और क्रिया को नैतिक जीवन की दो आँखें कहा जा सकता है। नैतिकता कहती है कि ज्ञान नामक आँख को आदर्श पर जमाओ और क्रिया नामक आंख को यथार्थ पर अर्थात् कर्म के आचरण में यथार्थता की ओर देखो और गन्तव्य की ओर प्रगति करने में आदर्श की ओर। जैन दर्शन ने नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों रूपों को स्वीकार किया है। लेकिन उसमें भी निरपेक्षता दो भिन्न-भिन्न अर्थों में रही हुई है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता जो कि वस्तुतः सापेक्ष ही है आचरण के सामान्य नियमों से सम्बन्धित है अर्थात् आचरण के जिन नियमों का विधि और निषेध सामान्य दशा में किया गया है, उस सामान्य दशा की अपेक्षा से आचरण के वे नियम उसी रूप में आचरणीय हैं। व्यक्ति सामान्य स्थिति में उन नियमों के परिपालन में किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नहीं कर सकता है। वहाँ पर सामान्य दशा का विचार व्यक्ति तथा देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ दोनों के सन्दर्भ में किया गया है अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वही हैं, जिनको ध्यान में रखकर विधि या निषेध किया गया था, तो व्यक्ति को उन नियमों तथा कर्तव्यों का पालन भी उसी रूप में करना होगा, जिस रूप में उनका प्रतिपादन किया गया है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में इसे उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। नैतिकता के क्षेत्र में उत्सर्ग मार्ग वह मार्ग है जिसमें साधक को नैतिक आचरण उसी रूप में करना होता है जिस रूप में शास्त्रों में उसका प्रतिपादन किया गया है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधों का सामान्य कथन है। जैसे मन-वचन-काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्हीं सामान्य विधि-निषेधों के नियमों का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसी रूप में किया जाना संभव नहीं होता तो उन्हें शिथिल कर दिया जाता है। नैतिक आचरण की यह अवस्था अपवाद मार्ग कही जाती है। उत्सर्ग मार्ग अपवाद मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्त्व को स्वीकार कर इसका निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्त्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। उत्सर्ग की निरपेक्षता देश-काल एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नहीं है। उत्सर्ग नैतिक आचरण की विशेष पद्धति है। लेकिन दोनों ही किसी एक लक्ष्य के लिए हैं और इसलिए दोनों ही नैतिक हैं। जिस प्रकार एक नगर को जाने वाले दोनों मार्ग यदि उसी नगर को ही पहुँचाते हों तो दोनों ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं। उसी प्रकार अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनों ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नहीं है। लेकिन निरपेक्षता का एक रूप और है जिसमें वह सदैव ही देशकाल एवं व्यक्तिगत सीमाओं के ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं "नैतिक आदर्श" स्वयं ही है। नैतिकता का लक्ष्य ऐसा निरपेक्ष तथ्य है, जो सारे नैतिक आचरणों के मूल्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का का अंकन का इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग मार्ग से या अपवाद मार्ग से, हमें इस लक्ष्य की ओर ले जाता है, शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण हमें इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, अशुभ है, अनैतिक है। सम्यग् नैतिकता इसी के सन्दर्भ में है और इसलिए इसकी अपेक्षा से सापेक्ष है, यही मात्र अपने आप में निरपेक्ष कहा जा सकता है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष होते हैं और इसी के मार्ग होने से निरपेक्ष भी क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का सच्चा तत्त्व प्रदान करती है। लक्ष्य रूपी जिस सामान्य तत्त्व के आधार पर नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद के दोनों मार्गों का विधान किया गया है, वह मोक्ष की प्राप्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि नैतिक आचरण एक सापेक्ष तथ्य है और देशकाल तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से प्रभावित होता है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि किस स्थिति में किस प्रकार का आचरण किया जाए, इसका निश्चय कैसे किया जाए ? जैन विचारणा कहती है नैतिक आचरण के क्षेत्र में उत्सर्ग मार्ग सामान्य मार्ग है, जिस पर सामान्य अवस्था में हर एक साधक को चलना होता है। जब तक देश काल और वैयक्तिक दृष्टि से कोई विशेष परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती है तब तक प्रत्येक व्यक्ति को इस सामान्य मार्ग पर ही चलना होता है, लेकिन विशेष अपरिहार्य परिस्थितियों में वह अपवाद मार्ग पर चल सकता है। लेकिन यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसका निर्णय कौन करे कि किस परिस्थिति में अपवाद मार्ग का सेवन किया जा सकता है। यदि इसके निर्णय करने का अधिकार व्यक्ति स्वयं को दे दिया जाता है तो फिर नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता (Objectivity) का अभाव होगा, हर एक व्यक्ति अपनी इच्छाओं के वशीभूत हो अपवाद मार्ग का सहारा लेगा। जैन विचारणा इस क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्र नहीं छोड़ती है। वह नैतिक प्रत्ययों को इतना अधिक व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) नहीं बना देना चाहती है कि प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उनको मनमाना रूप दिया जा सके। जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को यद्यपि इतना कठोर भी नहीं बनाती कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण नहीं कर सके लेकिन वे इतनी अधिक लचीली भी नहीं हैं कि व्यक्ति अपनी इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। उपाध्याय अमर मुनिजी के शब्दों में "जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ उस खण्डहर दुग के समान नहीं हैं जिसमें विचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का सदा भय बना होता है, वरन् सुदृढ़ चार दीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की स्वतन्त्रता है और विशेष परिस्थितियों मे वह उससे बाहर भी आ जा सकता है लेकिन शर्त यही है कि ऐसी प्रत्येक स्थिति में उसे उस दुर्ग के द्वारपाल की अनुज्ञा लेनी होगी।" जैन विचारणा के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग में द्वारपाल के स्थान पर 'गीतार्थ' होता है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समुचित रूप मे समझकर सामान्य व्यक्ति को अपवाद के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा देता है। अपवाद की व्यवस्था के सम्बन्ध में निर्णय देने का समस्त उत्तरदायित्व गीतार्थ पर ही रहता है। गीतार्थ यह व्यक्ति होता है जो नैतिक विधि-निषेध के आचारांगादि आचार संहिता और निशीथ आदि छेदसूत्रो का मर्मज्ञ हो, साथ ही स्व-प्रज्ञा से देश-काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। जैनागमों में गीतार्थ के सम्बन्ध मे कहा गया है "गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थ रूपेण ज्ञान है[1]। जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अगाढ़ (रोगी, वृद्ध) अनागाढ़, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्त्तव्य कर्म के परिणामो को भी जानता है वही विधिवान गीतार्थ है"[2] यद्यपि जैन नैतिक विचारणा के अनुसार परिस्थिति विशेष में कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण गीतार्थ करता है लेकिन उसके मार्ग निर्देशक के रूप में आगम ग्रन्थ ही होते हैं। यहाँ पर जैन नैतिकता की जो विशेषता हमें देखने को मिलता है वह यह है कि वह न तो एकान्त रूप से शास्त्रों को ही सारे विधि-निषेध का आधार बनाती है और न व्यक्ति को ही। उसमें शास्त्र मार्गदर्शक है लेकिन निर्णायक नहीं। व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इसका निर्णय तो ले सकता है लेकिन उसके निर्णय मे शास्त्र ही उसका मार्गदर्शक होता है।

---

१ (अ) अधिगत निशीथादि श्रुत सूत्रार्थं
(ब) गीतो-विज्ञात कृत्याकृत्य लक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः। —अभिधान राजेन्द्र कोष, खण्ड ३

२ आय कारण गाढं वत्थु जुत्तं ससत्ति जयणं च।
सव्वं च पडिवक्खं फलं च विधिवं वियाणाह॥ —बृहत्कल्प निर्युक्तिभाष्य ९५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org